झूठी धर्मनिरपेक्षता

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के राममंदिर भूमिपूजन में भाग लेने के बाद से धर्मनिरपेक्षता पर एक चर्चा शुरू हो गई है। धर्मनिरपेक्षता के पैरोकार और विरोधियों, दोनों के बीच एक प्रकार की निरपेक्षता और मुक्त विचारों का अभाव है। जहाँ बहुमत के नेता अल्पसंख्यकों पर हमला कर रहे हैं, वहीं धर्मनिरपेक्ष नेता संकीर्ण मानसिकता वाले मौलवियों की ओर खिंचे चले जा रहे है। ऐसे में बहुमत की राजनीति को चुनौती देने वालों को 'धर्मनिरपेक्ष' की बजाय 'बहुलवादी' कहना ज्यादा ठीक लगता है।

अतीत में जाएं, तो देखा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्ष और हिंदुत्ववादी नेताओं ने धर्म को एक राजनीतिक उपकरण की तरह इस्तेमाल किया। इसके पीछे चाहे झूठे अधिनायकवाद को प्रोजेक्ट करने की मंशा रही हो, या अल्पसंख्यक रूढिवादियों को प्रोत्साहित करने की। इसके लिए गांधीजी का उदाहरण भी दिया जा सकता है। गांधी ने धर्मनिरपेक्षता का आध्यात्मीकरण किया और धर्मनिरपेक्ष धर्म का पालन किया। उन्होंने हर धर्म में सच्चाई को बरकरार रखा, फिर भी जानबूझकर अनुष्ठानों, मंदिरों, मस्जिदों और देवी-देवताओं से दूर रहे। इस प्रकार अनेक विश्वासों वाली सार्वजनिक नैतिकता के साथ व्यक्तिगत विश्वास को मिलाकर एक उदार संतुलन का विकास किया।

1950 और 1960 का दौर गहरी धर्मनिरपेक्षता का दौर था। इस दौरान संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक "संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य" के रूप में परिभाषित किया गया। 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द मूल संविधान में नहीं था। 1976 में इंदिरा गांधी द्वारा इसे उद्देशिका में जोड़े जाने के बाद भारत के धर्मनिरपेक्ष मूल्यों का क्षय होना शुरू हो गया। 1980 के बाद जब धर्म की उग्र राजनीति का जोर बढ़ा, तब धर्मनिरपेक्षता का एक असहिष्णु, राज्य द्वारा थोपा हुआ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दमघोंटू स्वरूप भी सामने आने लगा।

नेहरू ने आदर्शवादी धर्मनिरपेक्षता को लागू किया था। बाबरी मस्जिद जैसे तत्कालीन विवादित स्थानों को प्रतिबंधित किया, सोमनाथ मंदिर के उद्घाटन से दूर रहे, लैंगिक न्याय की दिशा ने हिंदू पसर्नल लॉ को आगे बढ़ाया, लेकिन मुस्लिम पसर्नल लॉ में हस्तक्षेप करने से परहेज किया। फिर भी सतर्क और धर्मनिरपेक्ष नेहरू ने अपने 'पंडित' शीर्षक को नहीं छोड़ा था। उन्होंने अद्वैत के प्रति आकर्षण और गंगा नदी के प्रति श्रद्धा भी व्यक्त की थी।

नेहरू के बाद के नेता धर्मनिरपेक्षता को लागू करने में विफल रहे। इंदिरा गांधी ने धर्मनिरपेक्षता का इस्तेमाल निर्मम राजनीति की अपनी पहचान के लिए किया। 1980 के चुनाव में जीतने के बाद वह एकदम से धार्मिक हो गई थी। राजीव गाँधी के काल में धर्म निरपेक्षता के बारे में काफी भ्रम फैला रहा। उन्होंने कभी मुस्लिम रूढ़िवादिता को झुकाने की कोशिश की, तो कभी उसी के साथ खड़े रहे, कभी वे हिंदुत्व की ओर झुके, तो कभी बाबरी मस्जिद की ओर। पी वी नरसिम्हा ने हिंदुत्व आंदोलन को बेअसर करने की मांग की थी।

वाजपेयी ने 'सकारात्मक धर्म निरपेक्षता' में अपनी आस्था जताई। उन्होंने लोकतांत्रिक संसदीय मापदंडों के भीतर काम किया, और गुजरात दंगों के दौरान 'राजधर्म' की रक्षा का प्रयत्न किया था। मनमोहन सिंह के काल में 'धर्म निरपेक्षता का कठोर' स्वरूप सामने आया और काँग्रेस को हिंदू-विरोधी पार्टी मान लिया गया।

मोदी राज में धर्मनिरपेक्षता को खारिज कर दिया गया है। प्रधानमंत्री द्वारा किए गए भूमिपूजन को अधिनायकवादी मानसिकता में व्यक्तिगत के स्वाभाविक हिस्से के रूप में देखा जा रहा है। राष्ट्र की शक्ति और हिंदूधर्म से जुड़े कार्यक्रमों के बीच की रेखा को धुंधला कर दिया गया है। जिस प्रकार से 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का दुरूपयोग किया गया है, उसके बाद यह शब्द अर्थहीन और फर्जी लगता है। किसी भी नेता ने उग्र सांप्रदायिक्ता या अल्पसंख्यक रूढिवादिता से लड़ने की इच्छाशक्ति नहीं दिखाई है। धर्मनिरपेक्ष के बजाय, हमें समाज में एक बार फिर से वास्तविक सहिष्णुता का निर्माण करने की आवश्यकता है।

धर्म, जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन यह एक व्यक्तिगत मामला है। प्रगतिशील नागरिकों को चाहिए कि वे सार्वजनिक जीवन, प्रशासन और न्याय वितरण में धर्म को अप्रासंगिक बनाने की दिशा में काम करें।

किसी भी समाज में, व्यक्ति सबसे छोटा अल्पसंख्यक होता है। अगर व्यक्ति को कानूनी सुरक्षा प्राप्त है, तो मान लिया जाता है कि यह सभी को प्राप्त है। अगर हम सामुदायिक अधिकारों के बजाय व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर ध्यान केंद्रित करके चलें, तो भारत में सही शासन होगा, जो धर्म और सामुदायिक संवेदना के प्रति अंधा होगा।

धर्मनिरपेक्ष और इसके विरोध का दोहरापन हमें हमेशा फंसाए रखता है। यही तो नेता चाहते हैं। अपने आप को हिंदू, मुसलमान या ईसाई मानने से पहले हम स्वयं को 21वीं शताब्दी का एक उदार लोकतांत्रिक नागरिक क्यों नहीं मान सकते ? एक ऐसा नागरिक, जो धर्मों से अछूती एक ऐसी आधुनिक सरकार की मांग करे, जो किसी एक समुह को विशेष लाभ न पहुँचाए। भले ही यह कार्यरूप में सामने न आए, परंतु उम्मीद पर ही तो दुनिया टिकी है।

'द टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित सागरिका घोष के लेख पर आधरित। 13 अगस्त, 2020